आवाज़ तेरी है

राजेन्द्र यादव

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

राजेन्द्र यादवका कविता-संग्रह : आवाज़ तेरी है ! थोड़ी चौंकानेवाली बात हैं, लेकिन सिर्फ़ इसलिए कि अभी तक वे कथाकार माने जाते रहे हैं। वैसे, संग्रहसे पहले उनकी कविताएँ प्रकाशित होती रही हैं और कथा कृतियाँ भी उनके कवि-हृदयको उद्भासित करती रही हैं—मुख्यतः कथान्तरालकी गहन स्थितियोंके अनुभूतिपूर्ण चित्र। जो कथानकके आकस्मिक मोड़में सुखद विस्मयका रस लेते हैं, वे चाहें तो स्वयं कथाकारके इस नये मोड़से विस्मित होनेका सुख भी अनुभव कर सकते हैं।

'आवाज़ तेरी है' के अन्तर्गत कई आवाज़ें हैं : चरम आत्मीय अनबोले क्षणकी वाणी, मनःस्थितियोंके लघु चित्र, भावमुग्ध-गीत, आत्ममंथनकी चिंतन-शृंखला, संवाद-प्रयोग आदि। विरोधाभास तो यह है कि यह नयी कविता-पर व्यंग्य भी है और नयी कविता भी।

'आवाज़ तेरी है' के साथ नयी कवितामें एक नया स्वर जुड़ता है—एक अप्रत्याशित दिशासे आया हुआ स्वर जो दुरूहता एवं अस्पष्टतासे सर्वथा मुक्त है और निर्भ्रान्त सामाजिक चेतनाका निर्भीक वक्तव्य है।

जो चाहो लिख लेना
मैं प्रश्नचिह्न बन कभी नहीं
व्याख्या माँगूँगा।

आवाज़ तेरी है

राजेन्द्र यादव

भारतीय ज्ञानपीठ
काशी



ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला–हिन्दी-ग्रन्थाङ्क–१२७
सम्पादक और नियामक
श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन

प्रथम संस्करण
१९६० ई०
मूल्य : तीन रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी

घनश्याम अस्थानाको

संकेत-सूत्र

कविताएँ इधर लगभग नहीं ही लिखीं। अनुभूति-क्षणोंके आकलन और अभिव्यक्तिकी प्रक्रिया शायद कुछ और राहोंकी ओर मुड़ पड़ी हो...शायद अधिक व्यापक और प्रभविष्णु धरातलोंको खोज रही हो... खोजकी सफलता या सार्थकताका आश्वासन अभीसे कैसे—और क्यों—दिया जाय ?

किशोर-गीतोंसे लेकर नवीनतम कविताओं तककी यात्राका विस्तार बारह-तेरह वर्ष है। सारा लेखन इसी अवधिमें बिखरा है। छूटे हुए पड़ावों और घुमावोंको मुड़कर देखना किसे बुरा लगता है ?

'नई कविता'की संज्ञा शायद यह न पायें। शास्त्रीय 'अकृष्ट-पच्य' दुरूहता अर्थात् एकान्तिक और वैयक्तिक राग-बोध जिन शास्ताओंके पास सुरक्षित हैं, रहें। उनकी ऊँचाई, मेरी जिज्ञासाओं और शंकाओंसे ऊपर है; लेकिन आदेशित बिम्बों और उससे भी अधिक आयातित शब्दानुवादोंका आग्रह इन कविताओंमें कहीं नहीं है—इसलिए और भी।

५. ए. ग्रीक चर्च रो,
कलकत्ता-२६.
२८ अगस्त' ६०

—राजेन्द्र यादव

क्रम

प्रतीक्षा



दीवारों से लटके
फ़िल्मी अभिनेता हैं
आँखें मिचकाती ट्रैफ़िक की लाइट है
ख़ुशबू की 'सर-सर' में इठलाती चालें हैं...
बहसीली मेज़ों पर धुएँ के छल्ले हैं
'बस' की मुड़ी टिकट-खुँसी बेहद सुस्त घड़ी है
पर-कटी चीलों-से मँडराते पंखे हैं...

उफ़, कितना शोर है !
कैसी दिव्य शान्ति है !

लेकिन इस सबके पार,
इस सबके पीछे,
रह-रह कर चौंकती,
घायल प्रतीक्षा है
पागल प्रतीक्षा है...!

क़र्ज़-ख़ोर

मिलते डरता हूँ...

कि जो कुछ दिया है
मुझे,
जिसे
तिल-तिल सँजोया
पल-पल जिया है
मैंने...

मन की रातों की
अँधियारी गलियों में
जिस गुनगुनाहट की
उँगलियाँ पकड़ी हैं...

उस सबको
वापस न देना हो
वह भी उधार हो...

मिलते डरता हूँ...

अपर्णा आज की

•

ओ,
तपस्या-लीन गौरी,
ले हमारी प्रार्थनाएँ तुझे ही अर्पित
कि शायद इन्हीं से खिंचकर
अजन्मा-वर लौटने की राह पा ले

और तू टूटी घड़ी-सी स्तब्ध
नया लेकर 'फ़नर'
स्वप्न-वाही कूक पी ले
धड़कनें फिर जाग उट्ठें...

और हम पायें
समय किस-किस दिशा को लाँघ आया है...

काल को रोके खड़ी
ओ,
तपस्या लीन गौरी...

अन-बोले क्षण

•

न,
कुछ न बोलो
मौन पीने दो मुझे
अपनी हथेली से तुम्हारी उँगलियों का कम्प...

उँह, गुज़रते सैलानियों की दृष्टि
अँधेरे को भेद
रह-रह रीढ़ पर से रेंगती थी—अब नहीं है।

नहीं,
कुछ भी तो नहीं,
ऊपर का पखेरू सपन में शायद चिंहुक कर डगमगाया है...
डैने तोलता है।
तट की भुजाओं के ढाल
अ-देखे ज्वार की अँगड़ाइयों में टूटते हैं...
पार जलती रोशनी के साँप
लहरों पर हुमस कर
इस किनारे तक लपकते हैं...लौटते हैं

सुनो,
बोलना क्या चाहिये ही ?
मौन क्या गहराइयों को स्वर नहीं देता ?
शब्द तो हैं वस्त्र,
भावों के—अभावों के !

इस समय अनुभव करें चुप
परस्पर को हम नक़ाबों में ही नहीं हैं...
हम निरावृत, अनावरण हैं...

क्या चरम-आत्मीय क्षण यों अ-बोले होते नहीं हैं ?

प्रतीक्षा

०

एक पत्र आयेगा
रोज़ सुबह लगता है।

रोज़ सुबह लगता है
आज कोई मिलेगा—एकदम अपरिचित
लेकिन वह परिचय की गहरी तरल परतों के
आने वाले दिनों में
चन्दन की गन्ध-सा समाता चला जायेगा
—रोज़ सुबह लगता है।

रोज़ सुबह लगता है
सहसा मिलेगा आज, कोई एक परिचित
जो गुज़रते कारवानों की
डूबती घण्टियों औ' मिटती पग-छापों-सा
जाने कहाँ छूटा था...

रोज़ सुबह लगता है
कुछ होगा,
अप्रत्याशित
जिसकी मुझे आशा है!

एक पत्र आयेगा
और रुँधे पानी की मख़मली काई
'डुवुक्'—से फट जायेगी
लहरें कमल-नालों को सहलायेंगी
तारों की छायाएँ जुगनूँ-सी झमकेंगी
फैलते वर्तुल का रिकॉर्ड, अनजाने बज उठेगा...

एक पत्र आयेगा
और मछली के गले में फँसी अन-खिंची डोरी
'खट्'—से टूट जायेगी
न—मरी मछली मौत की तलाश में
धारा की गति को चीर-चीर डालेगी
लहरों के थपकते हाथों को झटक-झटक फेकेंगी
भीतर की तिलमिलाहट
सतह के माथे पर लकीरें खींच जायेगी...

एक पत्र आयेगा
रोज़ सुबह लगता है।

प्यार : एक (कन-)-फ़ैशन

अब तो
सिर्फ़ पत्रों में रह गया···
मैं,

वार-बार चाहा
बाहर झाँका, भीतर थाहा
अपने सम्पूर्ण से भेटूँ
बिखरे, छितरे टुकड़ों को समेटूँ,
लेकिन अशक्त का ज़हर—
दर्द,
भीतर निष्पन्द, बाहर सर्द—
छोड़ गया मुझे...

आख़िर घुटा और सह गया...
मैं,
पत्रों में रह गया,
मैं···

बाँट लिया मुझे
जिसको जो रुचा छाँट लिया :

३

सिनेमा के गीतों ने
बस में कन्धा भर-छू लेने की हारों ने, जीतों ने
केसरिया सरसों ने
शाब्दिक मसलों की बेमतलब बहसों ने
कॉफ़ी के प्यालों पर बदराये चाँदों ने
कुहरीली साँसों-सी घनी-घनी यादों ने…
अख़बारी दुनिया ने
दरबारी मस्के ने
ग़ुर्राती ट्रकों और सर्राती कारों ने
सतखण्डे महलों को बाँधे हुए तारों ने
थके-बुझे चेहरे से जड़ी हुई खिड़की ने
चोरी से छीने गये चुम्बन की झिड़की ने
घुलती प्लेटों के बचे-खुचे दानों ने
घावों की मक्खी-से मँडराते गानों ने

बाँट लिया मुझे
जिसको जो रुचा छाँट लिया…

यों मैं राहों में अटक गया
बीते की रीती-रीती बाँहों में भटक गया···

अब तो नाम लेते भी लजाता हूँ
दर्पण से, पानी से, भरसक कतराता हूँ

बस, जब, पल दो पल को अपने में होता हूँ
मरते हुए रोगी-सा रोता हूँ—
किसी की दस्तक पर।
किसी के होठों की फड़कन-सी मस्तक पर—
पाता हूँ
लौट-लौट आता हूँ—
सिर्फ़ इन भूले-भूले ख़तों में।

लकवे में रेंगती कच्ची हसरतों में—
सिसकता प्यार हूँ—
अन-देखा उमड़ा,
अन-चूमा बह गया···

हाँ,
अब तो सिर्फ़ पत्रों में रह गया···

आवाज़ तेरी है

यह तुम्हारा स्वर मुझे खींचे लिये जाता !

—कि जैसे डोर वंसी की तड़पती मीन को खींचे
—कि जैसे ज्योति की रेखा, पथिक ध्रुव-हीन को खींचे
—किं जैसे दीप की लौ का अरुण का सारथी टेरे
—कि जैसे ऐन्द्रजालिक मोहिनी से चेतना घेरे
सिसकती धार को जैसे कि सागर खींच लेता है—
लहर की बाँह फैलाकर !
अचानक यों मुझे झकझोर कर किसने जगा डाला ?
अँधेरे के नक़ाबों में स्वयं मुझको बुलाता-सा
चला जाता,
—कि बादल में उलझ कर धूप पावस की
सरकती भागती जाती
बिछी हरियालियों, अमराइयों के पार !
क्षितिज-सा भागता यह स्वर मुझे खींचे लिये जाता।

मगर यह कौन है
जो यों समय-असमय बुलाता है ?
यही स्वर एक दिन
चुपचाप हातिम के हृदय में फूट उछला था

कि जैसे क्षुब्ध ज्वाला-मुखि !
—निदा की वह पहाड़ी गूँज !
सालस अज़दहों-से सुप्त लेटे कुण्डली मारे पहाड़ों को
उफनती सर्पिणी-सी दौड़ती फुफकारती नदियाँ,
विचारों के कँटीले झाड़-से उलझे घने जंगल
बुझे दिल-से चिलकते धूप में निर्जल—
बगूलों में गरजते-गूँजते विस्तीर्ण-रेगिस्तान
खिंचती डोरियों-सी झूलती मुड़ती तनी सड़कें
चमकती पटरियों की रेख
काँतर-सी सहस-पग दौड़ती रेलें
—सभी कुछ लाँघता चलता चला जाता
विसुध, बेहोश !
—"कहीं है एक
जो मुझको बुलाता है।"
यही तो एक स्वर है
न जिसको मैं झुठा पाता,
झुठाया आप अपने को।

वही आवाज़ आती है।
न मुझको रोक, पथ दे छोड़,
इस आवाज़ का मुझको कि उद्गम छोर छूना है !
जहाँ पर एक है कोई कि मेरी राह में बैठा
गिना करता कनेरी उँगलियों की पोर !

सत्य है यह
भूख से ठिठुरे हुए इन्सान की शिशु-हड्डियों के तख़्त पर
बैठा हुआ भगवान

मेरा सिर झुकाने में हमेशा ही रहा असमर्थ
मेरे भाग्य को
ये अधोमुख लटके हुए नक्षत्र छू पाये नहीं ।
औ' जगत-जीवन के जटिल गम्भीर प्रश्नों को न पल-भर टाल
अपना बोझ सारा भूल
पाया गिन कभी सूनी लकीरें हाथ की मैं !
आज की तारीख तक मैंने टटोले ही नहीं हैं
भाव-कम्पित उँगलियों से मूक बेबस
झुकी भौंहों पर उभरती सलवटों के मोड़ !
—हार का अभिषेक !

किन्तु तब भी, एक यह विश्वास
मेरी आत्मा से उठ, हृदय में गूँज
जलमय पुतलियों पर तैर कहता—"कहीं कोई राह मेरी
देखता है ।"

ओ, भविष्यत् के क़िले में क़ैद
रानी स्वप्न की,
मैं काल-सागर पर क्षणों की लहरियों से जूझ
लघु व्यक्तित्व की नौका धकेले
चल पड़ा हूँ खोजने वह तीर
जिसके आ-क्षितिज सिकता किनारे पर
महा-सुनसान में
खोले वतायन दुर्ग के
टेके हथेली पर चिबुक
तू झाँकती दिनरात
सूनी दृष्टि से चुपचाप !

बूँदें कोरकों से ढुलकती हैं
—खोई ताकती अनिमेष
सपने भेजती है !
और सपनों की निरन्तर गूँजती आवाज़
कितनी दूर
कितनी पास !

निर्मम टेर,
रुक ज़रा
मुझको कभी आराम करने दे,
कभी कुछ साँस लेने दे !

मगर तू कौन है
हे, स्वर ?
—कि निर्दय ठेलता जाता
न पीछे घूमने देता
निगाहें बाँध डाली हैं
—कि जैसे मन्त्र की कौड़ी विवश-से सर्प को खींचे
—सलज सौन्दर्य का जादू असुर के दर्प को खींचे,
थकन, अवसाद के विष को
कली-से ओंठ चुम्बन में कि जैसे खींच लेते हैं
—पराजित स्वर्ग का वैभव मृणाली बाहु-बन्धन में !
यह किसी का स्वर मुझे खींचे लिये जाता ।

हज़ारों टूटती साँसें,
कराहें, चीख़, आहें, व्यंग, ताड़न,

—कि बढ़ता जा रहा है रुद्ध कोलाल
किन्तु तम के बीच में यह तड़ित् जैसी टेर
कितने स्निग्ध कंपन के मधुर आरोह
—मेरे कान युग-युग से इन्हें पहचानते हैं !
नित्य परिचित हैं हृदय, मन, आत्मा सब
क्योंकि इसके गाढ़ आलिंगन में बँधे वे
अलस सपनीली बदलते करवटें कब से !
—कि मेरे कान की लौ को
नशीली भाव-विह्वल साँस से छूती कँपाती
लरज़ती-सी टेर
केवल एक तेरी है !
इन्द्र-धनुषों के मुलायम पाँवड़े डाले
यही मुझको लिये जाती
—कि ज्यों उँगली पकड़ आगे
अजानी, घूमती पगडण्डियों औ' पर्वती अँगड़ाइयों के पार !

यह अलक्षित हाथ,
मुझको खींचती आवाज़
मेरा समर्पित अस्तित्व !
—दोनों ओर पथ के देखती हैं विविध प्रस्तर-मूर्तियाँ चुप !
(वीथि क़ब्रिस्तान में ज्यों !)
और यह अनिरुद्ध कोलाहल
पुकारें
खींचती पीछे,
बुलाती—"लौट आओ !"
--ये प्रलोभन !
आह, किसके हाथ का स्पर्श कन्धे पर मुझे महसूस होता ?

चम्पई उँगली,
गुलाबी नख,
किरन की डोर-सी चूड़ी
सरल आग्रह भरी यह दाब,
कितना प्यार !
सच, मैं मुड़ पड़ूँगा !

मैं विवश हूँ,
यह किसी का स्वर मुझे खींचे लिये जाता !

कौन मुझसे कह रहा हर बार
रुकना असम्भव है !
घूम पीछे देखने का अर्थ होता है
हज़ारों मूर्तियों में एक अपने को गिना !
—ये निशानी उन थकित मज़बूरियों की हैं
भटक कर मोड़ में
या इस बवण्डर में हुए दिग्भ्रान्त
पीछे घूम पड़ते थे !
न हरगिज़ रुक,
न पीछे देख,
झूठा मोह, झूठा प्यार !
मत सुन, ये पुकारें झूठ !

उस पहाड़ी शिखर की यह राह
मंज़िल तक
जहाँ रोती पड़ी हैं वे कुंजियाँ
दिनरात कहतीं—"सुनो, हमको खा रही है ज़ंग

४

हमी' से उस दुर्गका वह तिलस्माती जाल टूटेगा
तुम्हारे स्वप्न की रानी जहाँ पर क़ैद बैठी है।"
वहीं वह तलवार है,
जो गल रही, बेकार !
नहीं पहुँचा हाथ, जो झपटे, उठाले
काट डाले शीश दानव के
—कि तेरे भाग्य की सीता हृदय से आ लगे !
धो ले लहू से केश
रक्तिम माँग भर ले !
वहीं सूखा जा रहा है अमृत-घट !
और ये पत्थर बने यौवन
डगर पर तरसते-से ताकते हैं
ये युगों से देखते हैं राह उसकी।
है पवन का पुत्र कोई ला सके जो ?
तू इन्हें दे प्राण,
लेकर साथ, चलदे,
जहाँ अन्तर में सँजोये आस
'सिंहल-द्वीप' में 'पद्मावती' बैठी हुई है।

लेकिन, ख़ूब सुन ले
जो वहाँ ले जायेगा—वह पथ बड़ा सुनसान
बीहड़, घुप अँधेरा
प्रेत की हुंकार-से फिर गूँजते ये बोल
'पीछे लौट जाओ।'
सजल, गद्गद् , रुद्ध रोती-सी गुहारें
'अरे, निर्मोही चला आ।'

हर क़दम पर खड़ी थक कर
पत्थरों की मूर्तियाँ ख़ामोश आँखों से कहेंगी :
'सुनो,
हम भी तो तुम्हारी ही तरह थे !
एक छलना, एक तृष्णा हमें भी खींचा किये थी
अब यहाँ हम चुक गये हैं।
एक पल, रुक ले न तू भी ?'

लेकिन ख़ूब सुन ले,
यह पराजय, भीति, आँसू
यदि ज़रा भी रोक पाये गति तुम्हारी,
यदि ज़रा भी बन गये दुबिधा हृदय की
एक झटका, मंत्र-सा
ज्यों तीर बिजली का तड़पकर बेध जाये
मील का पत्थर बना-सा मूर्तियों में जा मिलेगा !
बाँह फैलाकर तुझे ये बाँध लेंगी !

यह बड़ी दुर्गम डगर है
यह छुरे की धार—'सूली पर पिया है'
हर क़दम पर मोड़,
लेकिन मोड़, चढ़ने की कला है !

कुछ नहीं,
मैं कुछ नहीं सुनता
समझने ही नहीं देता मुझे यह अन्ध-आमंत्रण

—किसी का स्वर मुझे बाँधे लिये जाता !

हमेशा एक-सा स्वर है
सदा सपने उगाता है।
हृदय के गुम्बदों में गूँजता उठता !
घुटे-से घूम्र में धुँधली लपट का शीश
—जैसे फन !

अजाने हिम-शिखर पर बैठ कोई बाँसुरी फूँके
कि राधा-सा रगों में कुछ मचलता है,
मृगों की साँस के धागे लपेटे जा रहा निष्ठुर !
चला जाता मैं
विवश,
गलते युधिष्ठिर-सा !
किसी का स्वर मुझे खींचे लिये जाता !

सिगरेट की राख



पार्टनर,
झाड़ दो ना राख
दर्शक को बड़ी मनहूस लगती है।
तुम्हारी उँगलियों में दबी सिगरट जल चुकी है ।
राख केवल रह गयी
पुरानी गठन के, सम्पर्क के कारण,
लेकिन
यह सुरुच-दर्शक को बड़ा बेचैन करती है ।
न जाने कब पड़े गिर
मेज़, गालीचों, किताबों, शैल्फ़ पर
जो तुम्हारे सतत साथी हैं ।
—कि जो कुछ जाय जल
उसे निर्मोह बन झटको !
ज़रा-सा हाथ हिलता है
यही बस कष्ट– (समझो तो !)
सच, बड़ी मनहूस लगती है
जलन के साँप की केंचुल !

नदीदी पीढ़ी का गीत

●

और दो...और दो...

देखो, हमें कभी कुछ नहीं मिला...
हमारा असन्तोष, हमारा गिला
हमारे सपने सब
समय ने कुचल दिये...
(भगवान उसे समझेगा !)
हम उन बौनों के बेटे हैं
जिन्होंने बस,
तन ही दिया था हमें
और फिर चल बसे

अध-नंगे, भूखे हम
तुम्हारे मुहताज हैं :
अवसर दो,
अर्थ दो,
आसन दो,
क्षमा दो,—(हमने तुम्हें बुरा कहा)
आत्मा दो,
दृष्टि दो,
दर्शन दो,

हमारे पास कुछ नहीं
और दो...और दो...

युग-युग का सत्य

कवि जी बैठे थे
कविताएँ चलती थीं ।
हँसकर बोले वे :
"मेरी ये कविताएँ युग-युग को बाँधती हैं
केवल युग-सत्य गाकर
श्रम को गँवाऊँ क्यों ?
यह काम अख़बार का है
दरकार मुझे है नहीं ।
हर रोज़ लिखकर, पढ़ना पुराना
मुझे न गवारा है ।"

फिर खाँस-खूँसकर
कड़कती आवाज़ में (गले की नसें फूल उठीं)
उन्होंने तान छेड़ दी
नथुने फड़कते
नयन आरक्त थे
हाथ-पाँव फेंक-फाँक :
कैसे भरत ने सिंह के गिने दाँत
बताया उन्होंने !
घहरती रातमें शिवाजी की कथा,

जब शेरनी का दूध वे गुरुजी को लाये थे।
फिर प्रताप के भाले का वर्णन था।
राम के
कृष्ण के
यश का,
गौरव का बुद्ध के
अशोक के
सभी के सवाक् चित्र देने की
शब्दों में क्षमता थी।

अर्थ बरसाती नदी-सा फूटता,
शब्द बाँध तोड़कर गरजते-तरजते
यमक अनुप्रास की झड़ी लग पड़ी थी
कविता चरम पर...

अचानक चीख़ हुई
कविजी उछल पड़े
कोई चीज़ उनकी पीठ पर रेंगी थी,
बिजली की फ़ुर्ती से कोट दूर जा गिरा
दोनों बटन टूट गये
जूते बम-खण्ड से यहाँ-वहाँ उछले।

कविजी झींख उठे
'धत्तेरे झींगुर की—
अचानक डरा दिया!
सारा रस-भंग कर।'

और सब हँस पड़े
लेकिन वे सुन्न थे
कमीज़ बनियान का कहीं कोई पता नहीं
केवल एक कॉलर था कोट से लगा हुआ
मोज़ों की एड़ियाँ पंजे नदारद थे
जूता तला-हीन था
छाती पर नालियाँ—शरीर पर पसली !

जय हो साधक की,
युग-युग के सत्य की, सो कविता हो असली !

न बिकने की व्यथा

•

भेड़ों के झुंड में एक भेड़ बोली यों :
"वह जो आया था, तहमद लगाये हुए
कान में बीड़ी थी
बेरहम आँखों में मौत की सख़्ती थी
हाथों पर ख़ून था...
ज़रूर क़साई था
अपनी भूरी को पहली ही बार में
मुँह-माँगा दाम दे, उसने ख़रीद लिया
कान से खींचकर साथ-साथ ले गया...

असल में मूर्ख था
फूले-फूले रोओं से ऐसा भरमा गया
कि हम जैसी भेड़ें—मोटी औ' चरी हुई
देखती ही रह गईं...

अच्छा, चुप...चुप
देखो, कोई वैसा ही
फिर आता दीखता है।"

जागे नयन किसी के, सारी रात !

आज दीवाली
तिमिर के खेत में अंकुर प्रभा के फूटते हैं
झुकी शाखों पर तमस् की-
ज्योति के कोंपल सुनहले थरथराते उठ रहे हैं ।
और सोया मन गगन का फुलझड़ी बन घूमता है !

आज अन्तस् का रुँधा विक्षोभ
लोहित लपट में यों विस्फुरित हो
भस्म करने को हुआ कटि-बद्ध बाक़ी स्नेह-कण,
—'क्यों हमारा चाँद कोई ले गया !'
चाँद, मुझको आह, तुमसे प्यार कितना !
दिवा-सपनों की नशीली रश्मियों के केन्द्र मेरे !

यह सिकुड़नें,
यह लाल डोरे
खिंची भौंहों पर उभरती सलवटें
सब साफ़ ही तो कह रहीं ये–
नयन के सूने बिछौनों पर
हृदय के दिव्य-हर्म्यों में पली
अवचेतना की गहन वीथी से–
चली आई कुमारी स्वप्न की !
पर रात भर बेचैन करवट ही बदलती वह रही है

आज सारी रात मैं भी एक पल को सो न पाया !

मेरे सपने थक गये

मेरे सपने थक गये
भटकती राहें आपस में उलझीं-उलझीं
जीवन भूल-भुलैया-सा रह गया
कि छूटीं सारी सुधियाँ दूर
साध सब चूर
थका मन हारा-हारा पस्त
त्रस्त मजबूर !

तुम अपनी बाँहों की कोमल सीमाओं में घेर इन्हें
वासन्ती चुम्बन अंकित कर दो दीप्त-मधुर
सच, ये बालक से लहरा जायेंगे खिल कर !

मेरा मानस
उड़ते हंसों की उज्ज्वल परछाईं के नीचे
मोती की फ़सल उगाता जो
अब केवल विशाल रेतीला सागर
करवटें बदलता, छूता रहता दो छोर
'सहारा' हँसता है !
तुम अपने भावुक नत शर्वती सजल,
नयनों में—इन्द्र-धनुष घोले,
बस, एक इशारा भर कर दो,
शत-शत नख़लिस्तान किलक कर अँगड़ायी लें !

सच, मैं बहुत अकेला
इन संघर्षों के काँतर-पंजों में बिंध कर
दिन रात छटपटाया करता हूँ !
जैसे मेरा उल्लास,
जवानी के सपनों की निर्द्वन्द्व हँसी
मस्ती के झरने सतरंगी,
भावों के जूड़ों में गूँथे-सजे
गीतों के मुकुलित पारिजात
कल्पना के पायल की मदिर झनक
सब भीतर ही भीतर घुट-घुट कर सिसक रहे चुपचाप !
किसी केकड़े के पाशों में बँध गया विवश
जो बूँद-बूँद कर मुझे सोखता जाता है !
बाँहों में ताक़त नहीं कि हिल तक सकें तनिक,
यों जीवन का नवनीत रिस रहा शनैः शनैः
संगीत चुप रहा शनैः शनैः...

जो सीमा से उमँग-उमँग कर
सरिता-सा बह उठे, गा उठे
मैं उफान था
'सत्यवान' था,
लेकिन सब 'सत्' चुका
न पतझर रुका
भाग्य की शाखें झुक न सकीं ।

पर, फिर भी केवल
एक अजाना मरता-सा विश्वास
कभी बल दे जाता झकझोर

किसी दिन 'सावित्री' की ज्योतिर्मय साँसें
इन अन्धकार के कुंजों में आलोक बिखेरेंगी आकर
मेरा अवसाद ओस बन कर चमकेगा...

मैं रक्षित हूँ एक सुगन्धित अलक जाल से
जो यह साँपों के जाल, काट दे सकता है...

स्नेह का सम्बल यम से भी लौटा लायेगा !

एक मूड

कभी-कभी यह क्या होता है ?

जैसे...खिड़की के काँचों पर,
फिर दूर, सटी ऊँची-ऊँची बिल्डिंग पर
सहमे पेड़ों पर
लहरा-लहरा टकराने वाली बौछारें
कुछ गहरा, दर्दीला कहने को आती हों !

खम्भों के माथों पर सलवट-से लटके तार
रेंगती चाँदी के फन-सी बूँदें
सिकुड़े-से बैठे काग !
और नीचे की सड़कों पर चींटों-से काले-काले
बारिश की झालर में हिलते-डुलते वृत्त, चले जाते छातों के ।
सभी कितने बेकार
प्राण-गति हीन !

रेडियो से उगते गीतों के बोल
उड़ते काग़ज़ पर खुला पेन
एक दूसरी पर लदी. झोंपड़ी बनी कितावें...
श्वेत सफ़ों पर उलटे-सीधे शब्द
अक्षरों का जंजाल...
सब कितना बेकार
अर्थ से हीन; खोखला
भुतहे घर-सा !

अलगनियों पर चढ़े, चिढ़ाते
पैण्ट-पजामें
घिसे तौलिये
खूँटी से गर्दन बाँधे
टँगी टाइयाँ—
सब कितने बेकार
क़साई की दुकान पर लटकी लोथों जैसे।

कभी-कभी यह क्या होता है ?

: १ :

झुकता सन्ध्या का गीत, यामिनी झूल रही

मैं वातायन से झाँक रहा हूँ, शून्य विमन
रह रह कर चपल फुहार खिला जाती मुख-मन
आती जाती है पास
दूर ... फिर ... दू ... र कहीं

लय की लहरों पर थिरक रागिनी झूल रही
झुकता सन्ध्या का गीत, यामिनी झूल रही

गूँजा उन्मद मल्हार मंजरित डालों पर
रिम-झिम नूपुर की झमक,चरण की तालों पर
बे-सुध लहराता चीर
रँगीला इन्द्रधनुष

बिखरे कजरारे केश दामिनी झूल रही ...
झुकता सन्ध्या का गीत, यामिनी झूल रही

मन के कोकिल की कुहुक, झूलते भू-अम्बर
स्वप्निल निश्चेतन तरल पलक के पाटल पर
वीणा की मृदु झंकार
मृदुल पग-थाप पड़ी

सुधियों की रश्मिल डोर चाँदनी झूल रही
झुकता सन्ध्या का गीत, यामिनी झूल रही

: २ :

आ, बचपन के मीत, कि मुझको रात सुहानी लगती

वह आँख-मिचोलीवाला चंदा, प्रणय-गीत गाता है
एक सलोना मुख बदली से झाँक-झाँक जाता है
सुधि चाँदी-सी बरस रही–
पलकों पर ! भींगे तारे...
मानस की लहरों में नर्तित मदिर रवानी लगती
आ, बचपन के मीत, कि मुझको रात सुहानी लगती

शिशु-लतिका पर नव-वसन्त के सुमन खिल रहे होंगे
मुदित गुलाबों पर नरगिस के पंख हिल रहे होंगे
कुंद पुष्प-से उछल-फूट
निर्झर अधरों से बहते

फूली मेंहदी-सी साँस बड़ी भीनी मधुरानी लगती
आ, बचपन के मीत कि मुझको रात सुहानी लगती

बहते घन के साथ बलाका-सा लहरीला मंथर
मुक्त पसारे पाँख तैरता मन भीगी किरणों पर
मृदु तुषार-सी उतर
सपन की तहें परों पर जमतीं

झाँक रहे आँखों से आँसू, नींद बिरानी लगती
आ, बचपन के मीत, कि मुझको रात सुहानी लगती

: ३ :

पुलका मेरा हृदय सावनी बदली झुक आई है ...

तप-तप कर धरती की आशा, सिन्धु खींच कर लाई
मेरे तन का कालिदास फैला पंखों को नाचा
मुग्ध चातकी-सा सपनों का वैभव देख रहा हूँ

सुनसान बौर पर झूला डाले कजली झुक आई है...

उँमगी धरती पर बूँद-बूँद फिरकी-सी नाच रही है
बिजली की छुरियों से चीरे कौन हिया देता है ?
खुली आँख-सी खिड़की पर लहराती चिक बौछारी

पुरबइया में सिहर याद कुछ पिछली झुक आई है

सुरमई चीर पर इन्द्रधनुष की गोट उठा हौले-से—
किरणों की स्वर्णिम उँगली से पल झलक दिखा चंदा की
साँसें कानों में गमक रहीं...फैली अलकों की नागन—

कंधे पर धर चिबुक, कौन यह पगली झुक आई है ?

"...तदात्मानं सृजाम्यहम्..."

•

मैं कहता था :
"फिर आऊँगा ।"

अन्धकार के क़दम निगाहों के नक्षत्रों को
कुचल-मसल डालेंगे जिस दिन
जिस दिन आँखें किसी एक बिन्दु पर टिकना छोड़ चुकेंगी
जिस दिन क्षितिज डूब जायेंगे
धरती व्याकुल सुरभी-सी—
कैरम की 'असमर्थित रानी' बनकर
अपने 'लक्ष्यों' से लौट-लौट आयेगी
पागल सीमान्तों से टकरायेगी !
जिस दिन पातालों के स्वामी
अपनी कलुषित मुट्ठी में दाबे भू-मण्डल
हँस-हँस कर सौदे बोलेंगे !
सारे केन्द्र बिखर जायेंगे
द्वादश-सूर्यों के विभ्राटों से उनके रंग-मंच किलकेंगे
तब ,
उन सबके अलग-अलग पथराते दिल में
व्यापक भय की गहराई में
किरणों का परिधान पहनकर
'ध्रुव' बनकर मैं फिर बोलूँगा—'लो, मैं आया हूँ !'

मैं हर दिल में भय बनकर छिपा हुआ हूँ
लेकिन तुम सबने
अपनी छाती की अन्धी कारा में
'वैयक्तिक कमज़ोरी' कहकर मुझको घोट दिया था !

अब आओ,
कारा के ताले टूट-टूट कर लटक गये हैं
पहरेदारों के ख़र्राटे तुम भी तो सुनते होगे
लो, मुझको अपनी आस्था के सूपों में हाथों-हाथ उठा लो

चाहे जितनी उबल-मचल ले वन्या तब तक,
यम की बेटी मेरे चरणों को छू-छू कर लौट पड़ेगी
'मैं सामूहिक-भय बनकर आया हूँ !'

अक्षर

•

हम सब अक्षर हैं
अक्षर हरे काग़ज़ पर हों या सफ़ेद पर
खुरदरे में हों या चिकने में
टोपी पहने हों या नंगे सिर
अँग्रेज़ हों या हब्शी
उन्हें लिखनेवाला क़लम पार्कर हो या नरसल
लिखनेवाली उँगलियों में क्यूटैक्स लगा हो या मेंहदी
अक्षर, अक्षर ही है
शब्द वह नहीं है
अमर होते हुए भी अपने आप में वह सूना है...

अक्षर अर्थ वहन करने का एक प्रतीक है, माध्यम है
अक्षर अक्षर का ढेर, टाइप-केस में भरा सीसा मात्र है
शब्द बनाता है अक्षर-अक्षर का सम्बन्ध
वही देता है उसे गौरव, गरिमा और गाम्भीर्य
क्योंकि शब्द ब्रह्म है

हम सब अक्षर हैं
और सभी मिलकर एक सामाजिक-सत्य को अभिव्यक्ति देते हैं

सत्य जड़ नहीं, चेतन है।
सामाजिक सत्य एक गतिमान नदी है
वह अपनी बाढ़ में कभी हमें बहा देती है, बिखरा देती है।
कभी नदी बह जाती है
तो घोंघे की तरह हम किनारों से लगे झूलते रहते हैं
इधर-उधर हाथ-पाँव मारते हैं...
लेकिन फिर मिलते हैं
शब्द बनते हैं—वाक्य बनते हैं
और फिर नये सामाजिक सत्य को वाणी देते हैं
क्योंकि मरते हम नहीं हैं
हम अक्षर जो हैं

शब्द बनकर सत्य को समोना हमारी सार्थकता है
वाक्य बनना हमारी सफलता !

हमें पढ़ो,
हमारा एक व्याकरण है।

नया कथ्य

दृष्टि साधकर
पलक तोलकर
रात-रात भर आँख खोलकर
तारे गिन-गिन, जाग-जागकर
घर की, दर की, नगर-डगर की
किच-पिच चीख़ पुकार छोड़कर
हरियाली की मृदुल गोद में भाग-भाग कर...
फूलों के होठों पर रसिया भौंरा बनकर
भनन-भनन कर
जो कुछ तुम कहना चाहोगे, कहा जा चुका !

प्रेयसि के नयनों के मोती सजल नीर में,
साँसों के मादक उशीर में,
या बादल-सी पलक छाँह में
चम्पे-सी उँगली, मृनाल-सी मृदुल बाँह में
मन के सपनों को उठते कलशों पर हेर-हेर कर
भावों की मछली को अपनी स्वर बंसी में घेर-घेर कर
जो कुछ तुम कहना चाहोगे, कहा जा चुका।

बहुत बड़ा मुनि कहलाने का
एक बहुत आसान तरीक़ा,
ऊपर देखो,
आँखें मूँदो,
माथे की सलवटें टटोलो
फिर विवेक की उँगलियों से मन की उलझी गाँठें खोलो
जो कुछ भी आ जाय जीभ पर नाम डाल दो,
उसे पुकारो
डटकर दर्शन-शास्त्र बघारो!
—पैसा अब यह बहुत घिस गया।
सच तो यह है
जो कुछ भी तुम कहना चाहोगे, कहा जा चुका।

और नया से नया तराना
कविता का बज़ार चमकाना
दुख से आत्मा को माँजो नित उठकर
पीड़ा का 'ब्रासो' मल मलकर
(क्योंकि सभी उपमान पुराने, बीत चुके हैं)
फिर उनमें क़ीमत चिपका कर
'शो-केसो' में रख देना भी, अधिक नहीं चलने पायेगा।

जिसको हम लायें उधार कर, भाव कौन है ?
सबसे सीधी बात कि केवल बचा मौन है।
बहुत दिनों दर्दों में डूबे
आँख बन्द कर—नाक दबाकर
दिल की रस्सी थाम-थाम कर
कितनी आत्मा की गहराई नापी
मोती की तो बात क्या कहें—घोंघा तक हाथ न आया।
केवल हम रह गये अकेले, सुननेवाला साथ न आया।
व्यक्ति-हृदय के अन्तर्तम की गलियाँ सूनी बहुत घूम लीं!

७

कविता सचमुच आज हमारे लिए विकटतम बनी पहेली
वह,
जिसने पत्थर के युग से इस अणु-युग तक
मानव की आँखों में बस कर ही काटा है !
लोहे के पहियों में पिस कर
इस सु-वर्ण के जटिल जाल में उलझ, झिझक कर—
किसी अँधेरी गुफ़ा खोजकर कविता सचमुच दफ़न हो गई ?
कविता की यह सारी सज्जा केवल रोता कफ़न हो गई ?
यदि हममें कुछ स्वाभिमान है
ज़रा कहीं बच रहा इमान है
तो दिन-रात कचोटा करती बात यही है
कहने लायक़ शेष न कोई बात रही है ...

मन के सारे गीत चुके हैं
नक़ल किये जाने वाले शब्दों के सारे आशय रीत चुके हैं
अब हम क्या कुछ नया कहेंगे ?
कौन कष्ट है जिसको बिल्कुल नया सहेंगे ?
क्यों कि झाड़कर झोली अपनी
जो कुछ तुम कहना चाहोगे, कहा जा चुका !

एक ख़ून है
जो हम सबके माथे चढ़कर बोल रहा है—बिखर रहा है
कविता का यह मरण तुम्हें भी अखर रहा है !
कहाँ गया वह तेज-पुंज संजीवन ला दे
मेघनाद की वज्र-शक्ति से इसे जिला दे ?

लेकिन ठहरो,
ओ, सुषेण के चोग़े डाटे,
इसे जिलाने का यश लेने आने वालो
अपनी-अपनी चोंचें घिस, कन्धे मटका कर
भूखे गिद्धों-से छा जानेवालो,
यों कविता की लाश न खूँदो ।
इसे जगाने का दम भरकर
मेरे, तेरे
तन के, मन के
आत्मा के, फूलों कलियों के
राजा, रानी के क़िस्से अब बहुत हो चुके,
इन्हें बस करो ।
कोई ऐसा मन्त्र पढ़ो जो निपट नया हो
कोई ऐसी बात कहो, जो अभी अन-कही
कोई ऐसा गीत लिखो, जो अभी घुट रहा
कोई ऐसा स्वर छेड़ो, जो पकड़ न आया !
सरस्वती के कुच सचमुच हैं अभी अछूते
कला अभी क्वाँरी बैठी है—
सूखी जयमाला उस सिर को खोज रही है
जिसके सिर पर शिव का नेत्र काल का तमस् फूँक दे
जिसके होठों की वंशी बन थिरक गा उठे :
'एक समय में,
बहुत अधिक लोगों ने अपने मन की पूर्ण शक्ति से
अपनी आत्मा की छाया में
कौन-कौन सपने पाले हैं ?
सहे कौन से दर्द—गीत बन क्या फूटा है ?'

'एक समय में
बहुत अधिक लोगों ने
क्या सोचा जो बोल न पाये,
क्या सीखा जो खोल न पाये,
क्या पाया जो आज खो गया—बिलख सो गया ?
क्या गाया जो अभी अधूरा ?
क्या बोया जो तलवारों ने काट गिराया ?'

'एक समय के
बहुत अधिक लोगों के अनुभव अब तक क़ैद पड़े हैं
संवेदन अब तक बंदी हैं !
मन-मन में घुट रही विधाता की पुत्री अब भी रोती है ?
उसे मुक्ति दो, उसे शक्ति दो।'

कविता की धरती पर अब तक नये द्वीप हैं।
पालें खोलो,
उन्हें खोजने चलो,
साथ हम सब चलते हैं।

वर्ना फिर तो,
हरी घास है
मन उदास है
दमित प्यास है।
क्योंकि खुरच कर माथा अपना
जो कुछ तुम कहना चाहोगे, कहा जा चुका !

बदलीवाला एक दिन

○

नहीं
मुझे कुछ भी—याद नहीं
कुछ भी तो याद नहीं आ ता...

ओठों को छू छू कर
पलकें छा लेते हैं
वही...
वही अपने कन्धों पर बि ख रे
बहके बहके
रेशमी मुलायम अलकों के बा द ल ... ।
और
उनमें
भटकती निगाहों-सी
मेरी दिग्भ्रांत उँगलियाँ...

स च न
मु झे कुछ याद न ... हीं आ ता ...

सूखे फूल : अधूरी कहानी

•

अरे
ये फूल यहाँ रक्खे हैं—
इन पन्नों में ... ?
इन्हें तो सच, मैं भूल चुका था !

धुलते पत्तों में भीगी चिड़ियों की सहमी-सहमी गुमसुम
पिछली खिड़की के काँचों पर बूँदों का सरगम—
सुन-सुन कर,
जाने कैसा-कैसा लगा
और सिगरट की नागिन चुप-चुप लहराती रही अकेली ...

सहसा हुआ
पुरानी एक कहानी कभी अन-पढ़ी छूट गयी है
दाँतों में अटके तिनके-सी कसक रही है, टूट गयी है।

अरे
ये फूल यहाँ रक्खे हैं ?
इन पन्नों में
जहाँ कहानी छूट गयी थी ?

अचानक
अक्षरों पर बिखरी केसरिया तितली के पर जैसी पँखुरी
वाले फूल
सिसक कर साँस ले उठे ...

दोनों जुड़े हुए हाथों की—
माखन की अँगुली की पोरों जैसे वे बेल के फूल
गुलाबी पाँखुरियों पर तैरी-तैरी शबनम के पारे की—
ढुलकी-ढुलकी बूँदों न्हाई कोरों जैसे बेले के फूल
दर्दीली मुसकानों की मजबूरी से कँपते—
ओठों में झाँक-झाँक उठते-से वे बेले के फूल
अन-झिप पलकों से—
कन्धे पर झर पड़ने वाली आँखों जैसे वे बेले के फूल ...
सिसक कर साँस ले उठे
यहीं कहानी छूट गयी थी ... ।

कहाँ—?
अब इनमें गन्ध कहाँ बाक़ी है ... ?
वह तो मैं पी गया उसी दिन
अंजुलि भर कर ...

सपना बन कर रह गयी गन्ध
जो घुलता-घुलता खो गया अजाने ...

अरे
ये फूल यहाँ रक्खे हैं
यहीं कहानी छूट गयी थी ...

जाने कब पूरी होगी अब
सूखे बेलों की अनकही कहानी ...

कुछ दिन बाद ...

●

प्रतिमा,
तुम आई हो !
सुन कर, सच, सुख हुआ ।
—भली तो हो ?
ये घर, नौकर, इज़्ज़त, वैभव ...
बड़ा अच्छा है !
यही तो सच है ।

वे ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की बातें
वे प्रेम-प्यार के झूठे-सच्चे वादे
वे क्लासों को छोड़
करोंदे की बाड़ों की छाँहों में
ईंटों पर बैठे
इधर-उधर कंकड़ियाँ फेंक
—दार्शनिक लगते मसले...
खोई-खोई आँखों से मुंडेर ताकते आत्म-प्रकाशन ...
वे सब ... वे सब तो ... अच्छा छोड़ो ...
बोलो 'वे' अच्छे तो लगे ... ?
अच्छा, अब जाओगी ?
इस 'शो' के ही टिकट लिये हैं ?
जाओ,
खेल बहुत अच्छा है ... !

न ... न ... ये चरण मत छुओ
ये घायल धूल-धूसरित पाँव
तुम्हारी मेंहदी मैली हो जायेगी ... ।

मुझे ज़िन्दा रहने दो
यों पत्थर मत करो ...

८

दुहरी ज़िन्दगी

•

सुनो,
ये आँसू,
ये शब्द,
ये बहसें,
ये लेखन,
ये तस्वीरें,

सब सतही हैं
सब नक़ली हैं
सब झूठे हैं ...

मेरे छूटे सत्य
मेरे सपने,
मेरी ख़ुशियाँ,
मेरी पीड़ा,

कहीं भी तो इनमें
कभी भी तो इनमें
मुखरित न हुए
झाँके तक न ज़रा !

मैं अकेला...

'कब तक और अकेले ?—कह दो, हे, मेरे जीवन बोलो !'
—प्रसाद

मैं अकेला

जीर्ण जर्जर एक छप्पर
और उसकी झूलती-सी तीलियों पर, सरकती हैं—
बूँद की माला ढुलक कर !
—बरुनियों से आर्द्र तारे टूटते हैं—
मैं अकेला !
यह अँधेरी रात सूनी
अमा के अन्तर्पटों में बन्द सोती स्तब्ध नीरव !
आज
एकाकी हृदय से उठ रहा उच्छ्वास शीतल
विजनता एकान्त की यह काटती-सी लग रही है !
उठ रही है साँस मन में
काश ! कोई साथ होता !
किन्तु अन्धी रात केवल, बधिर सूनापन भयावह
और मेरी अधमुँही-सी दृष्टि—जाकर टिक गई है सामने
लटकी हुई उस हिल रही लालटेन पर !
—है मन्द कितनी !

एक हल्का वृत्त ठिठुरी ज्योति का है साथ हिलता !
कुछ पतंगे फड़फड़ाकर शीश अपना पीट लेते
किन्तु वह दुर्भेद्य चिमनी
बीच का व्यवधान बनकर हँस रही है !
शलभ जलने का नहीं अधिकार तुमको !
औ' अन्धेरा झूलता, परछाइयाँ चुप नाचती हैं !
झूलने-सी खाट
गीली रात के नीचे पड़ा हूँ
मौन चुप अन्तर्मुखी मैं !
पास धारासार वर्षा की फुहारें पड़ रही हैं
वायु की उन्मुक्त लहरें
भींगकर बोझिल द्रवित हो
थपेड़े-से मार—उलटी लौट जातीं !
सनसनाते वायु-सागर की हिलोरों पर
विवश हो, भीत कम्पित मैं
कि मेरी झोंपड़ी का आज डाँवाडोल बेड़ा !
त्रस्त ज्योतिर्वृत्त हिलता !
अन्धेरा दुर्भेद्य बन दीवार-सा आगे खड़ा है !
उफ़ ! न पाता दीख कुछ भी !
मात्र वर्षा की झड़ी यह लग रही
मैं सुन रहा हूँ...
एक नियमित ताल झम-झम की निरन्तर-व्याप्त मन्थर
और वर्षा की झड़ी का एक आयत भाग
हल्की रोशनी से हो प्रकाशित
ज्योति चिलमन बन लहरता !
श्रवण की सब चेतनाएँ सजग हो कर पी रही हैं—
नाचती उन्मादिनी-सी व्यस्त वर्षा की कुमारी !
नूपुरों का स्वर कभी आ पास जाता

कभी जैसे घाटियों में
दूर झाँई गूँजती हैं !
एक लम्बी अन्तहीना मूर्च्छना-सी साथ चलती
झनझनाहट झिल्लियों की,
दादुरों के शब्द नियमित
कभी सबको चीर ऊँची काकली
धरती-गगन को हिलाती-सी गूँज जाती !
और वातावरण झंकृति से उमड़कर थरथराता !
मौन फिर नीरव दिशाएँ !
एक लम्बी शान्ति ... ती ... खी ... !

मन उमड़ता आ रहा है
व्यग्र सूनापन हृदय का पूछता है—
अन्त इस एकान्त की ऊबी निशाका !
भावनाएँ जड़ित मेरी
कल्पना कुंठित हुई है
मैं न लगकर सोच पाता
कर न मैं पाता तुम्हें चित्रित हृदय के मीत मेरे !
शून्य का यह 'सर्प पीना'
साँस-सी इस चेतना की पी रहा है
मार कुंडल जम गया है क्रूर
मेरी पसलियों पर !
आह ! मैं असमर्थ मूर्च्छित !
मैं थकित तन सो रहा हूँ,
पर कहीं अवचेतना के धुन्ध में
है सजग संज्ञा चिरन्तन !
चौंक उठता कौन भीतर
सुन घमण्डी मेघ का घनघोर गर्जन !
साथ ऊँची मोर की गम्भीर बोली

औंघती-सी लहरियों-की प्रतिध्वनि बन डूब जाती !
आह ! सब सुनसान कितना !
मैं अकेला सो रहा हूँ—
एक मीठी बात मन में कसमसा कर डूब जाती !
एक मादक स्वप्न आँखों में उतर कर ढुलक जाता !
एक सुरभित साँस अधरों से अकेली फूट पड़ती !
काश, मैं हिमखण्ड-सा गल कर भिगो देता किसी को !
काश, मेरी पुतलियों में
किसी की मद-होश वंशी गूँज, सो जाती भले ही !
जुगनुओं से स्वप्न
मन में व्यर्थ क्यों जल बुझ रहे हो ?
यहाँ जलती भूख केवल,
तनी धमनी का मचलता रक्त अब जलने लगा है।
कशमकश-सी द्वंद्व निर्मम
चल रहा तूफ़ान भीतर—
सुन रहा मैं
दाह, क्रन्दन, चीख, भय, चीत्कार !
जैसे लग रहा है आज
उठता एक उफनाती नदी का ज्वार
सीमा बन्धनों को तोड़
सारे विघ्न करता चूर
दुर्दमनीय कोलाहल उठाता
तीव्र भीषण अन्ध-गति से कुचल मुझको दौड़ता है
आह ! मैं असहाय—अक्षम !
अन्धेरा दुर्भेद्य बन दीवार-सा आगे खड़ा है !
कभी बिजली दमकती है
एक रेखा
नभ-हृदय पर चित्र ज्योतिर्मय बनाकर

साँप जैसी लोट, खो जाती तिमिर में !
और बूँदों की झड़ीं
जो तरल तिरछी हो बरसती—
चमक कर फिर लुप्त होती !
एक ती...खी शा...न्ति
ऊबी-सी विजनता
घुटन कोलाहल दबा-सा, झिल्लियों की मूक झंकृति
आज मेरा डूबता मन
एक गहरी प्यास
मन्थर धार
तपती ज्ञान की सारी शिराएँ सुप्त होती जा रही हैं !

यह अँधेरी रात सूनी
तीलियों पर सरकती हैं
बूँद की माला ढुलककर
बरुनियों से आर्द्र तारे टूटते हैं
मैं अकेला ...

'दो क़ब्र और यह सन्नाटा'

•

[ताजमहल से प्रेरित]

दो क़ब्रें कितनी पास-पास !

यह बनारसी बूटों-सी
नक्क़ाशी में झिलमिल-झिलमिल
सङ्गेमरमर की श्वेत—दूधिया चादर ताने
लेटी दो क़ब्रें पास-पास !
सभी कुछ मूक ! सब उ दा स !
रह-रह कर गहरी-सी उसाँस
भरते सिरहाने झुका शीश
दो मुरझाये-से धूपदान !
ज्यों उठता सुनकर मधुर तान
बल खाता
अँगड़ाई-सा इतराता
अलसाता-सा स्याह साँप !
लहराये रह-रह काँप-काँप !

यह मरघट-सा मौन
कि जिसमें जब तब कोई शब्द
जुगुनुओं-सा खो जाया करता है !

जैसे हहराती बाढ़
—बहाये लाती छप्पर-पेड़...
जेठ की दोपहरी का सन्नाटा
भूतों की साँसों के डेरे—
सन-सन करते फरास की छाया में
मोथे की जड़ से उलझ-उलझ
बिफरे मटमैले झागों में
—भँवरों में रुक-रुक बहती हो !
जब तब कगार के पर्त
पिघल कर हलके-से चुप टपक पड़ें
(ज्यों उछल उठे मेंढ़क कोई)
औ' यह हलकी-सी छपक्
रेंगती लहरों में फिर डूब जाय
सन्नाटा रह-रह थरथराय !

दो क़ब्र और यह सन्नाटा !
लोबानी धूएँ में लिपटा
जादू के भेदों से बोझिल
जैसे रहस्य का अदृष्ट चक्र
दिन-रात घूमता रहता हो !
(इसके पीछे वह मछली है
जिसकी हल्की-सी परछाईं
इन क़ब्रों में झाँका करती !
दुस्तर कितना पर लक्ष्य-भेद !
हो जिसके सिर में आँख
फोड़ सकता वह केवल लक्ष्य !)
वर्ना यह रोता सन्नाटा
भारी गुम्बद में ख़ुद भटका करता है

९

इस ऊँचे गुम्बद का ख़ालीपन
दिनरात तड़पता रहता है !
उफ़ ! कोई आकर, काश !
एक शब्द दे पाता उसकी पीड़ा को !

दीवारों से कोनों तक रह-रह
ऊपर गोलों में
कुछ चमगादड़ के पर फड़-फड़ !
ज्यों भय से सूखे होंठ
डूबती आँखों की छायाओं में
रह-रह कर काँपें—फड़क उठें !
हर अँधियारे कोने में
यों लगता है
जैसे सिमटा-सा कोई चुपचाप सिसकता हो।
हर कमरे की दहली पर रखते क़दम
हृदय की धड़कन में
जैसे कुछ 'धक्' से सिहर उठे !
लगता है, ज्यों आगे-आगे
आहिस्ते क़दमों से हो कोई निकल गया !
चौखट के ओटे में अभी-अभी
उसकी हल्की-सी छाया
औ' कपड़ों की सर-सर की ध्वनियाँ
सब कुछ तो साफ़ दिखी ही थीं !

यह तमाशबीनों के जोड़े
जूड़ों में गूँथे फूल

हाथ में हाथ लिये
पिकनिक को आया करते हैं !
ये शोख़ी से सरके पल्ले
या ग़ैर ज़रूरत बार-बार
सरका साड़ी को सिमटाना,
इन क़ब्रों पर आकर मन में
भावुक हो जाने का नाट्य किया करते !
भावों में विह्वल-मुग्ध—
खोल आधी-सी रतनारी पलकें !
बाहर तस्वीरें खींच
याद रखते सुहाग की रातों को !
कभी कबूतर-से कण्ठों की तरुण हँसी
फूलों की वर्षा में जैसे
बज उठें जलतरंगी-सरगम !
ये ताजमहल के दर्शक हैं !
ज्यों श्वेत गुलाबों पर तितली के जोड़े उड़ते-
फिरते हों !

हरियालीके बुर्क़े पहने
ऊँची-ऊँची ये मोर-पँखी
ज्यों गहन शोक के बोझीले—
गट्ठर से गर्दन झुकी हुई
औ' किसी मर्सिये की लय पर
यह लम्बी, लोगों की पाँती चुप चलती अर्थी के पीछे ।

यह ताजमहल
गुम्बद ऊँचा

माथे पर पहने यश-किरीट
सब तरफ़ फूल औ' बाग़
दर्शकों की टोली रङ्गीन
कि सब कुछ ख़ुशबू में चहचहा उठे।
लेकिन दो पल का खेल
चिरन्तन सन्नाटा !
गुम्बद के भीतर ख़ालीपन
उस ख़ालीपन में दो क़ब्रें
सिसकी भरता-सा अँधियारा।
है केवल इतना ध्यान मुझे
यह एक क़ब्र इनमें मेरी
पर यह है मेरे पास कौन ?

यमुना की लहरें सिहर-सिहर
चुपचाप सरकती हैं,
मानो दिन-रात ठिठकते फिसल रहे !
मैं ताजमहल-सा प्रश्न-चिह्न बन
खड़ा समय के तट पर हूँ !
हर लहर मुझे सुलझाने को
आती ललकन से भरी हुई
पर मेरी छाया से दब कर
चुपचाप सरक जाती आगे !
उनका हल्का-सा क्रन्दन भी
गुम्बद में जड़ बन जमी हुई
क़ब्रों को छू तक पाया हो
ऐसा दिन मुझ को याद नहीं !
यों एक बिलखता क्रन्दन-सा
दिन-रात गूँजता रहता है !

दर्द और दीवारें

●

यह हम क्यों सोचा करते हैं—?

व्यथा, हमारे सपनों पर जो फैल गई है एक क़फ़न बन
दर्द, हमारे प्राणों के हर धागे में, डोरे में—
जो ऐंठा करता है रह-रहकर
—बसा हुआ है, बँटा हुआ है !
साँस-साँस में लहकी-लहकी आग, ज़िन्दगी पीती जाती,
—यह सब बस, केवल अपना है !
यह हम क्यों सोचा करते हैं ?

आँखों के आगे सलाख़-सी तपी समय की सुइयाँ
टिक-टिक कर बढ़ती आती हैं,
दिलकी हर धड़कन पहाड़ से दबी,
लगा करती पहाड़-सी
यह दिमाग़ के आगे छाया धुन्ध,
अंधेरे के पर्दों से घिरा-घुटा मन
रग-रग में यह कसक, कशमकश
उफ़, बहुत तकलीफ़ मुझे है !
बड़ा मानसिक कष्ट,
न शब्दों में कह पाता,
लेकिन पोर-पोर तन तड़का जाता
रह-रह जलते कण्ठ तलक उठ आनेवाला धुँआ, बगूला
—यह सब बस, केवल अपना है !

कहीं दूसरा होता कोई,
(—राम न करे !—)
इस हालत में निश्चय मर जाता
टी० बी०, दिल की बीमारी से, हार्ट-फ़ेल से
शायद जब पाता न राह कुछ,
ज्योति न दे पाती कराह कुछ
लटका कर रस्सी कुण्डे से, सुबह पहेली-सा रह जाता !
वह तो मैं था
जो इस सबको चुप-चुप सहकर
भीतर ही भीतर गल-गलकर, शब्द न कहकर
उन अँधियारी गलियों को पीछे छोड़ चुका हूँ
—यह हम क्यों सोचा करते हैं ?

लेकिन उन गलियों से बाहर आकर
पीछे मुड़कर जब-जब भी हमने देखा है
लगा—अरे, हम बेवकूफ़ थे
वही 'हमारा कष्ट' ज़रा था नहीं 'हमारा'
उसमें तिल-भर भी तो कोई ऐसी बात नहीं थी
जिसको लेकर यों रातों जलना कृतार्थ हो ।

—ये आस-पास के यार-दोस्त, सब संगी-साथी,
सभी उन्हीं अँधियारी गलियों से आये हैं
सभी अलग-अलग भटके हैं
और सभी को एक समय में, एक बात महसूस हुई है :
"यह सब केवल अपना है !"

हम सब कितने पास-पास हैं
लेकिन दीवारें कितनी हैं ।
क्या सचमुच ये रन्ध्र-हीन हैं ?

—यह हम क्यों सोचा करते हैं ?

कैलेण्डर की अनबदली तारीख़

न हुआ ज़रा-सा कष्ट
और यह महीना जैसे ठिठक गया,
धूल की परतों में लुकती-छिपती
तारीख़ महीने भर पहले की।
ये हफ़्तों से बिखरे पर्चे, ख़त
यद्यपि कमरे में नित आया बैठा हूँ
पर कुछ मन ही न हुआ कि बदल डालूँ
क़लम हाथ में,
आँखें ख़ाली,
घण्टों ही इसको ताका है
तारीख़ न बदली गई मगर !
जब-जब देखा,
कुछ ऐसी अजब निगाहों से जैसे ये अंक, अर्थ सब खो बैठे !
जब-जब हाथ बढ़े कि कोई बोला है
मैं क्यों बदलूँ ?
इस दिन के बदले जाने में मेरा तो कुछ भी योग नहीं !
फिर रात हुई,
दिन सरक गया,
डिक्टेशन लेते मुंशी-सा
दिन की तारीख़ें बदल-बदल, मैं कैसे कह दूँ
ये सब दिन जीकर ही मैंने काटे हैं ?
कभी-कभी देखा ही है,

जीना कितना दुस्साध्य, द्वन्द्व-मय, मुश्किल है !
हलचल से हट
संघर्ष छोड़
अपनी खिड़की से सूरज को चढ़ता ढलता ही देख
करूँ स्वीकार कि दिन बस बदल गया
यह बात गले उतरी न कभी !
यह दिशा-हीन गति, भाग-दौड़
यह अर्थ-हीन-सी चहल-पहल
कैसे क्षण-क्षण को ठेल बदल दिन को सकती ?
मन मान नहीं पाता सचमुच ।
प्रश्नों का स्याही-सोख हृदय की धड़कन चूस गया सारी ।

यह एक महीने पहले की तारीख़,
शायद विश्वास दिलाने को बदली न गई :
समय गतिशील नहीं !
वह वहीं रुका, ठिठका, ठहरा
कर रहा प्रतीक्षा, मैं आकर उसके चक्के को घुमा सकूँ
इतना बल संचित कर लूँ !
पर इस सच को झुठला भी तो आज नहीं सकता
सब घड़ियाँ टूटे 'फ़नर' नहीं रखतीं,
सुइयाँ समय न फाँद सकें—
इसलिए सभी भयभीत नहीं कि चाभी ही न भरें
सबलोग मुझी-से, उलझन में, प्रश्नों में डूबे नहीं पड़े ।

वे ख़ुद उठ कर
'यह पेस्ट हमारा कहाँ गया ?

१०

कुछ पानी दो तो शेव करूँ
बटनों को कितनी बार कहा'

या चाय चढ़ा कर घर वाली
कुछ खटर-पटर करती-करती
उठ बहुत अँधेरे-मुँह, रह-रह
'देखो जी, आटा नहीं रहा
यह महरी रात नहीं आई
अब उट्ठो दफ़्तर जाना है।'
यों इधर-उधर कुछ झाड़-पोंछ
तारीख़ बदल ही देती हैं...

उस दिन सच, मन बहुतबहुत टूटा था।

उस दिन, मैंने कमरे के खिड़की दरवाज़े घोट,
उलट-पलट कर सारे काग़ज़-पत्तर
खींच-खींच कर बन्द दराज़ें
पिछले पत्र, लिफ़ाफ़े (नीले, पीले, हरे, गुलाबी)
जिनमें अब भी हल्की ख़ुशबू का-सा भ्रम था
जिनकी तह के मोड़
अक्षरों को जाने कब का खाकर
अब फटने-फटने को थे
—चित्र के फ़्रेम सहित चूल्हे में रख कर चाय चढ़ाई...
फिर...
उन लपटों की परछाईं को अपनी पुतली में पीता-सा
घण्टों सन्-सन् करते वाष्प-विफल ढक्कन को
अपलक खोया ताक रहा था
—वे गीली-गीली छितरी अलकें
मुसकानें वे लुटी-लुटी-सी
पलकों पर भींगी-सी मसली हँसी,
गालों से बह आया ओठों का वह खारा-खारा स्वाद
स भी कु छ...
सब कुछ उन लपटों के उठने-गिरने में काँप रहा था

ठण्डी-ठण्डी भूरी-भूरी राख
हथेली पर रख कर
एक हाथ के पंजे से बालों को जकड़े
माथे को थामे
जाने क्या-क्या सोचा किया बैठ कर...

बार-बार कोई कहता था :
"उट्ठो, इसको गंगा की लहरों में दफ़ना दें, अब चल कर।"
पर...
पर चुकटी भर-कर ख़ुद अपने माथे पर तिलक कर लिया
जाने किससे तब मन ही मन बोला था :
"वर दो,
मेरे सूनेपन को, अन्धड़ के अन-चुक कोलाहल से भर-भर
जाने का वर दो !"...
आगे फिर सब कुछ रुँध गया...
हथेली झाड़
झपट कर सारे दरवाज़ों का ख़ोला :
अरे, इ त ना ल म्बा आ...का...श
चिमनियों तक यों फैला चला गया है....

खुले किवाड़ों को हाथों से पकड़े
चौखट पर ठिठके
फिर देखा...
फिर-फिर कर देखा...

उस दिन सच, मन बहुत-बहुत टूटा था...

'ले चल मुझे भुलावा देकर'

जीवन से निराश औ' भटके हुए तारे की तरह
असीम आकाश में सभी आकर्षणों से अलग
जैसे कटी पतंग, हवा की लहरों पै थिरकती चली जाय
औ' बीती स्मृतियों की तरह उसकी शेष डोर, वेणी-सी
नीरस, निर्लक्ष्य, उदास साँसों से बँधी रहे !
तभी अपनी उम्र की, उमंगों की, सपनों की छत पै खड़ा कोई
उस सरसराती डोर के स्पर्श से चौंके, हाथ फैला दे
औ' यह सरसराती डोर उसकी फूल-सी कोमल हथेली की
लकीरों में समाती-सी फिसल जाय ।
(मुझे उन्हें किसी का भाग्य कहने दो)

जब कि मेरी रात रेलों में औ' दिन कारों में बीते हैं,
इतिहास के खण्डहरों में, वैभव के प्रेतों के इशारों पर
पेचीदा संस्कृति औ' दर्शन की रूखी पगडण्डियोंमें घूमा हूँ,
सच, कविता के एक बूँद पानी के लिए तरस गया
कण्ठ औ' तालू ऐसे चटख़ उट्ठे, जैसे तालाब सूख जाय ।

आह, किसने य' मेरे अतीत की डोर को झकझोर डाला,
ठिठक कर सोचने को मुझे विवश कर दिया है,
इक कस्तूरी की सोंधी-सो गन्ध गमकने लगी
चाँद के दरपन में रात के रानी के ओंठ,
किरनों के पाटल खोल के मुस्कराने लगे
औ' तुम्हारे सौन्दर्य की झलमलाती शोख़ परछाइयाँ

अपनी अबोध सादगी में मेरे हृदय में यों समा गयीं
जैसे राका का आकाश,
अलकों में फूल गूँथें हुए
सधे पंखों में मँडराता-सा समुन्दर में उतर आये।
जैसे आँसू में उदास फूल को लजीली बयार
छू दे
और वो हँस के कदम्ब बन जाय!
जैसे स्पंज पानी में डूब के पुलक उट्टे!
जैसे क्षितिज पर इस छोर से उस छोर तक
छाये हुए पर्दे को कोई
किरनों की उँगलियों से, शान से इधर-उधर सरका दे
और एक शाहाना अन्दाज़ से इन्द्र-धनुष की सीढ़ी पर
क़दम रखता हुआ वरदान की तरह हरियाली पै उतर आये!
फरफराते वस्त्रों की तरह तितलियों के पर फहरें,
हर चाप में सकुचती बीरबहूटी-सी महावर शरमाये!
जैसे सूने बाँस के रन्ध्रों में कोई मधुर बाँसुरी का सुर बने
औ' अँधेरे में ज्योति की लकीर की तरह
साँझ से सुबह तक लहराता रहे,
गूँजता रहे!
दुरूह चट्टानों से घिरे 'मानस' में कोई
आधी-रात के सन्नाटे में चुपके से
स्वप्न-तरी की रस्सियाँ नाज़ुक उँगलियों से खोल दे,
औ लहरों पै
तारों में फिसलते गीत की तरह, वह सरक उठे

उठते-गिरते वक्षों की साँसों में फहरा कर
पाल विजय के झण्डे की तरह
किसी अनजानी दिशा में तन जायँ...

बीमार आदमी : फ़रार दोस्त

'उहुँक्
अरे भाई, कौन हो ?
फिर कभी आना।
तार है ?
कल सुबह लाना।
बीमार हूँ, उठ नहीं सकता।
अस्त-व्यस्त पड़ा हूँ
नगर यह बड़ा है...
फ़ुर्सत किसे है कि कहा हूँ...
फिर कभी आना...

'अरे...अरे, यह क्या ?
कोई तहज़ीब है यह ?
आप खिड़की की राह ही भीतर कूद आये ?
निकलो...निकलो...
वर्ना शोर मचाता हूँ...।
जाने कौन कैसा पड़ा हो।
यह मुँह पर क्या बाँधे हो ?
ऐं, चोर हो ?

'नहीं, मेरे पास कुछ नहीं बचा

अन्तिम अँगूठी थी, होटल को सौंप दी...
सच, यहाँ कुछ भी नहीं...

'आँऽऽ,
अरे यह तो तुम हो, मेरे दोस्त ?
दोस्त...दोस्त...तुम यहाँ ?
लोगों को बहकाने के अपराध में,
सुना, तुम फ़रार थे...!
अचानक टपक पड़े,
न ख़त...न तार...?
भले आदमी, दो शब्द ही लिख देते।

'मानोगे,
अभी-अभी जँगले में ताकता,
तुम्हारी ही बात सोच रहा था ?
जाने कैसे होगे ? कहाँ होगे ?
देखो, क्या हाल है तुम्हारे इस बन्धु का ?
ट्राम-बस की भाग-दौड़,
दफ़्तर की फ़ाइलें,
टाइपराइटर के साथ-साथ
स्टेनो की गुज़रती खुट-खुट
चपरासी की घण्टियाँ
नियॉन-लाइटों के दूधिया-ट्यूब
बाहर फिर वही जलते और बुझते विज्ञापन
दिन जैसी रोशनी
तुम वहाँ कहाँ दीखते ?

तुम तो फ़रार थे...
हाँ, सिनेमाओं के पर्दों पर
या रातवाले रेखाओं में
किताबों में,
तस्वीरोंको देखकर,
कभी-कभी लगता था
चेहरा तुमसे कितना मिलता है...
लेकिन तभी सूचनाएँ कौंध जाती थीं
"फ़रार का पता दो, भरपूर इनाम लो।"

'और तब सहसा ही,
पुराने दिन जागते थे
याद है न ?
हम और तुम लिपट-लिपट सोते थे
रेलों में चलते थे
कभी इस, कभी उस खिड़की से झाँकते थे
बादलों के सागर में मछली से तैरते
मैं मुग्ध ताकता, तुम धारा थाह जाते थे
लहर-लहर नहाते थे...
मैं उदास होता था,
हथेलियों में चेहरा लिये
बुझे-से बैठ जाते थे...

'अब तो...
अब तो वो सब यादें भी याद नहीं
कभी-कभी बस से, ट्राम से उतरकर
घर तक आते हुए,

११

सिनेमा गुनगुनाते हुए
यों ही सिर उठ गया
लगा, तुम्हारी झलक दीखी थी...
लेकिन वह भी किसी फ़्लैट से झाँकते
मुखड़े में खो गई...

'अरे,
तुम भी कुछ बोलो न ?
देखो, मैं भी तो पागल हूँ
अपनी ही बक गया...

'दोस्त,
आज बीमारी में
अचानक तुम आ गये
सच, मन जुड़ा गया...
वर्ना बड़ी बेकली थी
नस-नस तड़कती थी
नींद नहीं आती थी
तबियत बहुत डूबी थी...

'चाँद, भाई
तुम भी कुछ बोलो न...?
हम तुम दूर सही
भूले तो नहीं ही हैं...

लहरें और किनारा : एक संवाद

लहरें—

ओ, तट,
यह सब क्या है ?—क्या कमज़ोरी ?
क्यों रह-रहकर,
तिल-तिल कर टूट रहे यों ?
यदि अभिशप्त तुम्हारा जीवन, यों ही गल-गल कर बहने को है
तो डूबो,
गल-गल कर बहो,
मगर यह सब मिट्टी, सिकता
(अपने खण्डित व्यक्तित्वों की छायाएँ)
हम पर तो मत फेंको, अपना यह स्खलन !
इन तारों, आकाश, चाँद के आगे
अपनी इन काली बाहों से क्वाँरे सपनों को मत छू लेना !
—हम यह सब पाने यहाँ नहीं आई थीं !

किनारा—

मैं ख़ुद लज्जित हूँ !
पर जाने क्यों, मेरी काया का हर कोना-कोना
बरसों के आतप में, तप में
जल-जल कर ऐंठा हुआ हर-एक कंगूरा
धसक रहा है, टूट रहा है !
ये सूखी नस जैसी मोथे की जड़ें न बाँधे रख पातीं अब,
लहरो,
दोनों बाँहें खोल, मुक्त फैलाये अलक,

ललक कर मुझ तक आने वाली लहरो,
ठहरो,
पहले मेरे प्रश्नों का उत्तर दो, ठहरो !
ये प्रश्न मुझे ही काट रहे हैं !
धीर, शान्त, गम्भीर, अचल, सम,
जाने तुमको मैं कैसा-कैसा लगता हूँगा...?
जाने तुमने मेरी इस छायी-छाया को,
अपने में कैसे-कैसे प्रतिबिम्बित पाया होगा !
सोने की बेलों
चाँदी के सलमों,
मूँगे की झालर से लहराया होगा !
ज्योत्स्ना के झूलों में बैठे-बैठे, जाने कैसा पाया होगा !...
पर,
अपनी तो मैं कहता हूँ,
—मैं केवल मिट्टी का तट हूँ
तुम हो चंचल, तरल
उसी की मैं रेतीली क र व ट हूँ
मैं त ट हूँ !

लहरें—

हे तट,
ये नगर, ग्राम, पथ,
छन-छन कर आती, लहराते पर्दों-सी धूप-छाँह
पद्मासन मारे पर्वत की काया विराट्
ये वृक्षों के हरियल चीवर,
शैलों के कन्धों चढ़ीं, झूलती यज्ञोपवीत-सी पगडण्डी,
ये पेंगे भर-भरकर बौराई कजरी—
—सुन-सुन कर झूमी-झूमी बालें
यह सब सपनों का देश,

हमें भी दो—
दो हम को भी !

किनारा—

लहरो,
ठहरो,
इस सारे वैभव की काया पाकर भी
पहले मैं जो कुछ भी तुमको दूँगा,
वह तुम सब के शब्दों में (सच, वे सब शब्द तुम्हारे ही हैं ?
—उधारे हुए नहीं हैं ?)
केवल मिट्टी है !
कर्दम है !

लहरें—

कर्दम !
मिट्टी !
कीच !
अरे, हम अपनी मँझधारा को छोड़
तुम्हारा यह सब पाने को आई हैं ?
नहीं,
यह सब नहीं,
हमारी मोती जैसी आब,
हमारा शील-नम्र पानी,
तुमसे गँदलापन ले ?
कीचड़ ले ?
कर्दम ले ?
हमें जाने दो, वापस जाने दो,
छलिया,
मायावी !

किनारा—

लहरो,
ठहरो,
मैं सचमुच यह नहीं चाहता,
मेरा कोई दुर्बल पक्ष
तुम्हारी निर्मलता पर अपनी मनहूसी यों फेंके।
मैं तो दे दूँ—
तुमको सब रंगीनी
माथे पर रख लूँ
पलक सेज दूँ!
पर मानो,
यह मेरी मजबूरी है—
मैं मिट्टी हूँ!
पर हाँ, मेरा सारा कीचड़, कर्दम,
क्या सचमुच मेरा अपना है?
यह सब...
यह सब तुमने ही तो दिया!
नहीं तो मैं केवल सूखी रेती था...पत्थर था!
तुमने ही तो मुझको पिघलाया,
औ' आज वही 'वरदान' तुम्हारा
तुमको ही लगता कलंक क्यों?

लहरें—

तु...म
तुम झूठे हो!
हमने यह सब नहीं दिया!
उफ़, इस जिस-तिस की कीचड़ को
हम पर मत फेंको,
हम को जाने दो!

तुमने हमको,
घर का, बाहर का,
आह, कहीं का नहीं रखा !
हमको कहने दो,
चीख़-चीख़ कर कहने दो,
यह सारा सौन्दर्य-साज,
यह सारा विस्तार, वेश,
सब धोखा है,
छलना है,
माया है !
यह सब...
कम-से-कम वह सब नहीं
कि जो हमको बहते में लगा...!

किनारा—

कैसा भी बहते-बहते मैं तुमको लगता होऊँ
जो कुछ भी तुम कहती हो—सच हो,
पर मेरा छल-छद्म नहीं ही है !
—वह सब सच है !
हो सकता है,
वे मिट्टी की विवृतियाँ हों,
विकृतियाँ हों,
कुछ हों,
तट तो मिट्टी की तह पर तह की एक गरिष्ठ प्रकृति है
यह मेरा अस्तित्व—नियति है !
मैं मिट्टी हूँ—यह मेरी मजबूरी है ।
लेकिन वे सब भी मिट्टी के रूपक हैं,
शून्य नहीं हैं !
जाओ,

अपनी गति में, मस्ती में
अल्हड़ता में बहते-बहते,
जो भी इन्द्रधनुष देखे हों तुमने,
उनको बस, देखो !
यह सारा निर्माल्य, अमलता,
चंदा की छाँहों में उमड़ा-उमड़ा चितकबरा लावण्य
गुराई
—अभिशापित हैं !
तुम तो बस चन्दा को देखो,
एक अतीन्द्रिय भ्रम में भूली,...भूखी...प्यासी !
बहती चलो,
झुको मत, रुक कर !
क्योंकि यहाँ पर खिलनेवाले;
ठोस स्वप्न की नगरी में आने से पहले
उस सबको अपनी बाँहों में पाने से पहले,
मेरी कीचड़ पर,
कर्दम पर आना होगा !
फिर...
यह कीचड़ मेरी अपनी नहीं,
तुम्हीं तो हो !

लहरें—

उफ़ ! मत सुनने दो,
हमको इस सबको मत सुनने दो,
कर लेने दो बन्द हमें अपने कानों को,
पलकें सी लेने दो !

......लेकिन फिर भी...यह क्या ?
मन के भीतर भँवर कौन-सा गूँज रहा है ?

(सचमुच कुछ है ?
या यह स्वर भी बस धोखा ही है ?)
आख़िर कब तक,
कब तक हम चलती जायेंगी ?

यह गति क्या है ?
श्लथ, लथपथ-से चरण,
ऐंठती रग-रग में बेहोश थकानें
कब तक हम घुलती जायेंगी ?
यों धोखा मत दो,
मँझधारों में
ओ, अन्तर के पावन संयम,
युवती-दृढ़ता
यों धोखा मत दो...
मत टूटो
मत म च लो...!
च लो...च लो !

ओ तट,
अच्छा, एक बात बोलो बस,
वे सपने,
वे फ़सल, फूल,
वे पर्वत की ऊँचाई के केतु
क्या सचमुच सच हैं ?
—या सब, हमको भरमाने को तुमने छायाएँ खेली हैं ?

किनारा—

मैंने तुमसे कहा न,
वे सपने,

वे फ़सल, फूल,
वे नगर,
पहाड़ों की ऊँचाई,
वे चाहे जितनी हों दूर,
मगर सब सच हैं,
सब सच हैं !
हाँ, उनको पाने की राहें,
सीढ़ी,
मेरी कीचड़ की होकर है,
मेरे कर्दम को पाकर है,
मेरी प्यासों को पीकर है, !

लहरें—

आह, 'कहीं से,
कोई ऐसी राह नहीं है ?
जो हम उस सबको पा लें,
उस सबकी ठण्डी छाँहों में..
पलभर ठहरें, सुस्ता लें...
इस कीचड़, कर्दम से बचकर,
उठकर...?

किनारा—

भोली लहरो,
सच्चाई से यों मत भागो, ठहरो !
सचमुच, यह घास-फूस,
कीचड़, कर्दम क्या बहुत बुरा है ?
वैसे, यह सब क्या है ?
यह तुम सबके प्रश्नों के स्वर भर-भर कर उमड़ी-उमड़ी आँखें
मुझको सहलाती टकराती-सी हलचल,
चालें,

ठिठकन
कौतूहल,
उत्सुकता—मुझको पिघला देते हैं
औ' उन सब सपनों को
तुम्हें सौंपने की आकुलता' तुरता से कट-कट कर
मैं भहरा घहरा कर अपने को तुममें मिलने देता हूँ,
तुम तक झुकने देता हूँ !
मेरा यह प्रतिदान,
यह विभूति, आसक्ति
तुम्हारे स्तर तक आने का नमन,
यह सब,
जिसको तुम कर्दम कहती हो,
जिसको पाकर तुम औरों की फिसलन,
औरों की आँखों का कीचड़ बनती हो,
भीतर ही भीतर रिसती हो
(मैं ख़ुद घुलता हूँ)
पर यह रिसना, घुलना
नव-जीवन की दीप-शिखा-सी कमल-कली की गोद नहीं है ?
वे सुन्दरता के सारे कमल,
शिखर, मन्दिर चिन्तन के ऊँचे-से-ऊँचे
एक दिन यहीं बने थे !
तुम्हारी किसी पूर्वजा से भी
मेरे पूर्वज का,
यों ही वाद-विवाद हुआ था !
हाँ, यह सब कुछ तब 'कीच' नहीं था !

लहरें—

नहीं, झूठ है !—मिथ्या है,
मेरा स्वर्गिक, रूप, देह, यौवन, सब

यह तो बनना नहीं चाहते !
तन की,
मन की,
थकन,
शिथिलता,
कभी न इतना झुक पायेगी !
मैं केवल चन्दा की छाया में युग-युग तक
डैने बिना हिलाये चीलों-सी
तिरती जाऊँ...तिरती जाऊँ...!

किनारा—

तो फिर जाओ,
यही तुम्हारा भाग्य,
प्रारब्ध यही है !
लेकिन, सुन लो,
कभी न मुड़कर दायें-बायें तनिक देखता,
मिट्टी की दुनियाँ के पंकज क़दम क़दम पर किलक रहे हैं !
कहीं भूल कर भी मत गहरी कहीं पैठना,
—नीचे कर्दम का ही तल है !
केवल सतहों पर ही चलना !
जाओ,
घुलती घुलती डूब मरो,
सागर में जाकर !

लहरें—

रहने दो,
रहने दो,
अपने उपदेशों
अभिशापों के जालों में मत फाँसो यों !

किनारा—

मगर सुनो तो,
जो तुमसे कहते हैं,
सागर का अन्तस् विशाल है
—वह विराट है,
शाश्वत सत् है,
—वहाँ तुम्हें चिर-शान्ति मिलेगी !
वे झूठे हैं !
सब मरीचिका !
उसको कोई चाह नहीं है तुम जैसों की,
उसके पास बड़ी लहरें हैं !
तुम बेचारी लघु-लघु लहरी,
अपने को सन्तोष भले ही दो,
पर सागर तो अपने ठाठों में सोया है !
बड़े क्रूर परिहास किया करता है सागर !
उसके बादल दूत तुम्हारी बाँह पकड़ कर
लटका लायेंगे,
फिर हम इस धरती पर,
पर्वत पर,
खेतों पर पटकेंगे निष्ठुर !
सारा अहं बिखर जायेगा,
पानी पानी बन...बूँद बूँद छन !
हाँ, कुछ पर छींटे उछाल कर,
तुम तब फिर भी कीच बनोगी !

फिर आऊँगा...

पीछे रह जायेंगे ?
क्या वे सब, सचमुच पीछे रह जायेंगे ?
ओ, जीवन की अविजेय अन्ध-गति,
बोल,
मुझे उत्तर दे, कसकन का
प्रश्नों का
क्या वे सचमुच पीछे रह जायेंगे ?

वे
जो मेरे मन को अक्सर दोपहरी की अमराई में
बेलों लदे कुंज में
तट से उझक-उझक सिसकारी भरते नरसल की छायाओं में
चन्दा पर तिरती धुनी-रुई-से बादल-गोड़े नभ की विस्तृति में,
विस्मृति में
बहकाया, भटकाया करते थे
क्या सचमुच पीछे रह जायेंगे ?

वे
जो मेरे अभिशापित निर्वासन के अज्ञात क्षणों में
पत्थर के घर,

लोहे के ढाँचों की नगरी में
अलग-अलग वेशों में बहुरूपी-से खोये-खोये, मेरे बिखरे
व्यक्तित्वों को
अपनी छवियों के
सुधियों के बीच-बीच में रखकर
अनुक्षण साथ दिये आये हैं
बिछलन में
उलझन में
टूटन के पल में अपना हाथ दिये आये हैं।
शायद आज बिना उन सबके
अपनी आकृति को मैं ख़ुद भी पहचानूँगा...शंका है।
'वे हैं' तो 'हूँ'
वर्ना 'था' कोई......अब याद नहीं है।
वे मेरे सब 'मैं' के निर्माता
सचमुच, पीछे रह जायेंगे ?

ओ रे,
अरे, ओ सुनो,
इन अनजान पथों के मोड़ों से
फैलावों से
झुँझलाकर—घबरानेवालो, सुनो,
(मेरी रुँधी हुई वाणी यदि अब तक तुमको छू पाती हो–)
चुक जाने, थक जानेवालो, सुनो,
किन अनजान क़ब्र की डगरों पर मुझे ठेल कर
लेकर गहरी साँस
झुकाये शीश—डालकर कन्धे
घिसटे-घिसटे-से लौटे जाते हो ?—सुनो।

ये सिर पर क्रॉस उठाये
जीभों पर ढोये शब्द
(जो औरों ने अपनी इच्छाओं को इन पर थोप लिख दिये थे)
छाती पर रक्खे शिला
उसे नक़्क़ाशी से, फूलों से ढाँपे

...ये वेजाने बिजूके
मुझको जाने कैसी-कैसी पथराई आँखों से तोल रहे हैं!
ओ, मुड़ कर पीछे जानेवालो
मुझे अकेले डर लगता है!

इस घिरते गहराते अँधियारे के वन में
बस्ती से बाहर,
इस ठिठुरी चोटी पर
रोज़ रात को अपना भोजन लेने आनेवाला दैत्य,
मुझे ले जायेगा—ले जाने दो,
तुम सबने चुन लिया—अस्तु, पारी मेरी है।
कम-से-कम कल दिन-भर को तो टल जायेगा।

सच मानो,

उन बाहों की अजगरी लपेटों में
चटख़-चटख़ कर पिस जाने तक

उन दाँतों के अपनी पसली को छूने—गड़ जाने तक,
कुछ भी बोलूँ
तो मेरे जीवन की यह सीधी रेखा, शून्य बन उठे
कट-कट कर बस बिन्दु हो रहे,
उस पर तुम—या कोई भी—
जो चाहो लिख लेना,
मैं प्रश्न-चिह्न बन कभी नहीं व्याख्या माँगूँगा!

पर...
पर फिर भी दूर, अनागत के उक़ाब के लम्बे डैनों जैसे
इस दिगन्त से उस दिगन्त तक फैले-फैले
पास सरकते-आते क्षण में
बार-बार मन में उठता है :
रो लेने दो,
आज मुझे फिर उस कन्धे पर शीश टिकाकर रो लेने दो...

अरे ओ,
आँसू भींगे रूमालों को हिला-हिलाकर
तूफ़ानी सागर की शमन-कामना से सहमे-सहमे
मेरी भेंट चढ़ानेवालो,
तट के पीछे-पीछे हटते धब्बो
रुद्ध नमन लो ।

शायद सिन्दबादके बजरे का कोई तख़्ता,
फिर से धरती के तट तक पहुँचा दे,...

होश रहा तो तुम्हें खोजने फिर आऊँगा
शा...य...द...
फि...र आ...ऊँ...गा...

पहचानोगे ?
मेरी उस टूटी-फूटी क्षत-विक्षत आत्मा को
जाने कैसे कपड़ों में वह आये
पहचानोगे ?



भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित

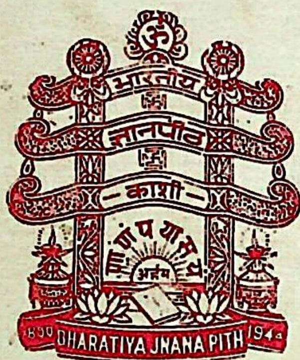
राजेन्द्र यादवकी

कहानियोंका संग्रह : खेल खिलौने

उपन्यास : शह और मात

अनुवाद : चेखवके तीन नाटक

कविता संग्रह : आवाज़ तेरी है



भारतीय ज्ञानपीठ
काशी

उद्देश्य

ज्ञानकी विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्रीका अनुसन्धान और प्रकाशन तथा लोक-हितकारी मौलिक-साहित्यका निर्माण

संस्थापक
साहू शान्तिप्रसाद जैन

अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

मुद्रक—सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी—५.